ISSN: 2456–4397 RNI No.UPBIL/2016/68067 Vol-5* Issue-11* February-2021
Anthology : The Research

प्राक – गुप्तकालीन नाग शासक

Prak - Gupta Naag Ruler

Paper Submission: 04/02/2021, Date of Acceptance: 24/02/2021, Date of Publication: 25/02/2021

राम राज
सह प्राध्यापक,
प्राचीन इतिहास विभाग,
प्रताप बहादुर पी0जी0 कॉलेज,
प्रतापगढ़, उत्तर प्रदेश, भारत

सारांश

भारत में नागों की उत्पत्ति. उदभव और विकास पर पुरातत्ववेत्ताओं. लोकवार्ताकारो एवं अन्य विद्वानों में मतभेद है। इस विषय पर जितना गहन. विस्तृत एवं वैज्ञानिक अध्ययन विदेशी विद्वानों ने किया उतना भारतीय विद्वानों ने बहुत कम किया है। ऋग्वेद के पूर्व सैन्धव सभ्यता के समय भारत में नाग–शासको एवं नाग जातियों का बाहुल्य था। आज जब इतिहास एवं संस्कृति के साहित्यिक एवं पुरातात्विक स्रोतों के साथ–साथ मौखिक इतिहास का महत्व दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। लोकगाथाओं–लोकगीतों के विभिन्न माध्यमों के आधार पर ऐतिहासिक तथ्य खोजने एवं उनके वैज्ञानिक अध्ययन का मार्ग प्रशस्त हुआ है। प्रस्तुत शोध पत्र में पूर्ववर्ती नाग शासकों के विषय में अध्ययन किया गया है।

There are differences between archaeologists and public opinionists and other scholars on the origin and development of Naga in India. Foreign scholars have done as much extensive and detailed study on this subject as Indian scholars have done very little. At the time of the Sandhav civilization before the Rigveda, there was a multiplicity of Naga rulers and Naga castes in India. Today, the importance of oral history along with literary and archaeological sources of history and culture is increasing day by day, on the basis of various mediums of folklore and folklore, the way of historical fact finding and their scientific study has paved. In the research paper presented, studies have been done about the erstwhile Naga rulers.

मुख्य शब्द : पुराण, नाग, ऋग्वेद, विदिशा, विष्णुपुराण।
Puran, Rigved, Vishnupuran.

प्रस्तावना

पुराणों के अनुसार नाग शासकों ने विदिशा, कांतिपुरी, मथुरा और पदमावती में राज किया। पुराणों में विदिशा के नाग वंश के दो भाग किए हैं, पहले भाग में वे राजा है जिन्होंने शुंगों के पतन से पूर्व राज किया और दूसरे भाग में वे राजा हैं जिन्होंने उनके पतन के पश्चात राज किया।

अध्ययन का उद्देश्य

प्रस्तुत शोध पत्र में पूर्ववर्ती नाग शासकों के विषय में अध्ययन किया गया है।

विदिशा के नाग शासक

31 ई0पू0 शेष नाग, भोगिन, रामचन्द्र, धनवर्मा और बंगर । डॉ0 के0पी0 जायसवाल ने विदिशा के नाग राजाओं का कालानुक्रम इस प्रकार किया है 1 –

1.	शेष नाग	110–90 ई0पू0	विदिशा में राज किया
2.	भोगिन	90 – 80 ई0पू0	
3.	रामचन्द्र	80 – 50 ई0पू0	
4.	धर्मवर्मा	50 – 40 ई0पू0	
5.	वंगर	140 – 31 ई0पू0	पदमवती में राज किया
6.	भूतनन्दी	20 – 10 ई0पू0	
7.	शिशुनन्दी	10 ई0पू0 –25 ई0	
8.	यशनन्दी	25 ई0 – 30 ई0	
9.	पुरूषदत्त		
10.	उत्तमदत्त		
11.	कामदत्त		
12.	भवदत्त		
13.	शिवनन्दी		

डॉ0 के0पी0 जायसवाल[2] के अनुसार अन्तिम पांच शासकों का ज्ञान अभिलेखों तथा सिक्कों से मिलता है। अभी यह निर्धारित नहीं है कि ये लोग किस क्रम से सिहांसन पर बैठे थे। इन राजाओं का समय लगभग ई0पू0 110 से 78 ई0 तक प्रायः दो सौ वर्षों का है।

विष्णुपुराण में कहा गया है कि नवनागों ने पदमावती मथुरा और कांतिपुरी से राज किया। वायु पुराण में इन विदिशा के नागों को वृष[3] अर्थात् शिव का साँड या नन्दी कहा गया है। उनके नामों के अन्त में यह नंदी शब्द मिलता है। भूतनन्दी के समय से जबकि भागवत के कथनानुसार इस वंश की फिर से स्थापना हुई थी, पदमावती राजधानी बनाई गयी थी। वहाँ स्वर्ण बिन्दु नाम का एक प्रसिद्ध शिवलिंग स्थापित किया गया था और उसके सात सौ वर्ष बाद भवभूति के समय में उसके सम्बन्ध में जनसाधारण में यह कहा जाता था कि यह किसी मनुष्य द्वारा प्रतिष्ठित नहीं है, बल्कि स्वयंभू है। पवाया[4] नामक स्थान में श्रीयुक्त गरदे ने वह वेदी ढूंढ निकाली है जिस पर स्वर्ण बिन्दु शिवलिंग स्थापित था। वहाँ एक ऐसा नंदी भी मिला है जिसका सिर तो सांड का है और शरीर मनुष्य का है।

शिशुनाग आदि आरम्भिक नाग राजा मथुरा में शासन करते थे या नहीं, क्योंकि मथुरा एक ऐसा स्थान था, जहाँ पदमावती, विदिशा, अहिच्छत्र आदि आस–पास के अनेक स्थानों से सिक्के आया करते थे। पुराणों में यह अवश्य कहा गया है कि वे विदिशा में राज्य करते थे और उनमें से पहले राजा शेष ने अपने शत्रु की राजधानी जीती थी। इस विजित राजनगर का नाम ब्रह्मानन्द ने 'सुरपुर' दिया है। इसलिए हम यह मान सकते हैं कि शेष ने इन्द्रपुर नामक नगर जीता था जो आजकल बुलन्दशहर जिले में है। उन दिनों यह महत्वपूर्ण नगर था[5] और इसी स्थल पर प्रारम्भिक नाग राजाओं के कुछ सिक्के पाये गये हैं। हमें यह भी पता चलता है कि शिवनन्दी का राज्य पदमावती तक था।

पुराणों के अनुसार ज्येष्ठ नागवंश विवाह सम्बन्ध के कारण, वाकाटकों से मिल गया था। इसका समर्थन वाकाटकों के शिलालेखों से होता है। पुराणों में कहा गया है कि यशनंदी के उपरान्त उसके वंश में और भी राजा होगें अथवा विदिशा वाले वंश में –

तसि आन्वये भविष्यन्ति राजानस्तत्रवस्तु ।
दौहित्राः शिशुको नाम पुरिकायां नृपो भवत् ।।

अर्थात् इस वंश में और राजा होंगे, और इन्हीं में वह दौहित्र भी था, जिसका नाम शिशु था, जो पुरिका का राजा हुआ था।[6] विष्णुपुराण में कहा गया है कि नवनागों ने पदमावती, मथुरा और कांतिपुरी इन तीन राजधानियों से राज किया था। यशनंदी का वंश अथवा कम से कम उसकी एक शाखा समाप्त हो गयी और जाकर दौहित्र में मिल गयी जिसे साधारणतया लोग शिशु कहते हैं। नागों ने पदमावती छोड़ दी थी और ऐसा जान पड़ता है कि प्रबल कुषाण राजाओं के आ जाने के कारण ही उनहें पदमावती छोड़नी पड़ी होगी। अतः हम यह मान सकते हैं कि सन् 80–100 ई0 के बीच नाग वंश के राजा लोग मथुरा और विदिशा के बीच के राजमार्ग से हट गये थे और उन्होंन मध्य प्रदश के जगलों में जाकर शरण ली थी। वाकाटक शिला लेखों[7] के अनुसार राज सिहांसन गौतमी पुत्र को, जो सम्राट प्रवरसेन का पुत्र और रूद्रसेन प्रथम का पिता था, नहीं मिला या बल्कि रूद्रसेन प्रथम को मिला था जो सम्राट प्रवरसेन का पोता भी था और भारशिव महाराज भवनाथ का नाती भी था। वाकाटकों के एक ताम्रलेख (वालाघाट, खण्ड–9, पृ0–270) में रूद्रसेन प्रथम स्पष्ट रूप से भारशिव महाराज – 'भाराशिवानाम् महाराज श्री रूद्रसेनस्थ' कहा गया है। इस प्रकार इस विषय में विष्णुपुराण का वाकाटक वंश के लेखों से पूरा समर्थन होता है।

लगभग सन 175 या 180 ई0 के बीच एक नाग राजा वीरसेन ने मथुरा में फिर से अपना राज्य स्थापित किया। वीरसेन के उत्थान से केवल नागवंश के इतिहास में ही नहीं बल्कि आर्यावर्त के इतिहास में भी मानो एक नवीन युग का आरम्भ होता है। उसके अधिकांश सिक्के उत्तरी भारत में और विशेषतः संयुक्त प्रान्त में पाये गये हैं और कुछ सिक्के पंजाब में मिले हैं।[8] कुषाणों के शिलालेखों, सिक्कों के समय और वीरसेन के शिलालेखों से यह बात निश्चित रूप से सिद्ध हो जाती है कि कुषाण संवत 98 के थोड़े ही दिनों बाद वीरसेन ने मथुरा पर अधिकार कर लिया था। शिलालेखों से हमें यह पता चलता है कि भवनाग भारशिव था और भारशिव राजाओं में अन्तिम था। सिक्कों से यह पता चलता है कि उससे पहले उसके वंश में और भी कई राजा हो चुके थे। उन सिक्कों से यह भी पता चलता है कि इसका वंश आगरा और अवध के संयुक्त प्रांतों में राज्य करता था, क्योंकि वहां से सिक्के बहुत अधिक संख्या में मिलते हैं और उन्हीं सिक्कों से यह भी पता चलता है कि कौशाम्बी में इन राजाओं की एक टकसाल थी।

हयनाग के सिक्के पर की लिपि सबसे अधिक प्राचीन है और वीरसेन के समय की लिपि से मेल खाती है। उसका समय वीरसेन के समय के ठीक उपरान्त होना चाहिए।

भारशिवों का कान्तिपुरी में उदय

सन् 140– 170 ई0	1.	नवनाग	(सिक्के)
सन् 170– 210 ई0	2.	वीरसेन	(सिक्के और शिला लेख)
सन् 210 – 245 ई0	3.	हयनाग	(सिक्के)
सन् 245 – 250 ई0	4.	त्रयनाग	(सिक्के)
सन् 250 – 260 ई0	5.	बहिन नाग	(सिक्के)
सन् 260 – 290 ई0	6.	चरजनाग	(सिक्के)
सन् 290 – 315 ई0	7.	भवनाग	(शिलालेख)

यह सूची पुराणों से ठीक–ठीक मिलती है, क्योंकि उनमें कहा गया है कि नवनागों के सात राजाओं ने राज्य किया था।[9]

कुषाण सम्राटों का शासन काल लगभग एक सौ वर्ष है। यह बात मथुरा वाले उन शिलालेखों से मालूम होती है जो उनके राज्य काल के 98वें वर्ष तक के मिलते हैं। जब भारशिव लोग फिर से होशंगाबाद और जबलपुर के जंगलों से निकले तब जान पड़ता है कि बघेलखण्ड होकर गंगा तक पहुंचे थे। वहां उन्होंने कान्ती अथवा

कान्तीपुरी में अपनी राजधानी स्थापित की।[10] अब वहां गंगा के किनारे लगभग एक मील तक लम्बा मिट्टी का किला है। किले को मुस्लिम काल में विनष्ट कर दिया गया था तथा राजा अपनी राजधानी पड़ोस की पहाड़ियों में विजय नगर तथा माण्डा में ले गये। कांति में क्षेत्रीय दंतकथाओं के अनुसार, गहडवालों से बहुत पूर्व काल में, किले का सम्बन्ध भार राजाओं से था। भार शब्द भारशिव का अपभ्रंश है। भरहुत अथवा 'भरहुत' इस शब्द का मूल भार–भुक्ति होगा जिसका अर्थ भारो का प्रान्त होता है। आज भी इस प्रदेश में भार नामक आदिवासी लोग रहते हैं। अतः भार लोग नाग वंश के थे। भरदेउल मन्दिर की शिल्पकला और मूर्तियां आदि का सम्बन्ध मुख्यतः नागों से है और किट्टो (Kitteo) ने लिखा है उसके काल में वह कर्कोटक नाग का मन्दिर माना जाता था। नागौढ़ और नागदेय इनस्थल नामों से सूचित होता है कि इस प्रदेश पर एक समय बघेलखण्ड के नाग राजाओं का अधिकार था। उसी प्रकार भरहुत और भर मन्दिर भारशिव नागों से सम्बन्धित थे।[11]

पुराणों में भारशिवों को नवनाग कहा गया है। पहले विदिशा में जो नाग हुए थे, वे अर्थात् शेष से वंगर तक आरम्भिक नाग है। पर भूतनन्दी के समय से, जबकि नाग के अन्त में नंदी (वृष) शब्द लगने लगा तब अथवा जब सन् 150–170 ई0 के लगभग उनका फिर से उत्थान हुआ तबसे निश्चित रूप से भारशिव कहलाने लगे। राजा नवनाग और उसके उत्तराधिकारियों के सिक्कों में नागों के आरम्भिक सिक्कों से मुख्य अन्तर यही है कि उनमें आरम्भिक सिक्कों का दात शब्द नहीं पाया जाता और उसके स्थान पर नाग शब्द का प्रयोग मिलता है। भागवत पुराण में नव नागों का उल्लेख नहीं है और केवल भूतनन्दी से प्रवीरक तक ही वर्णन है। अतः भागवत पुराण के अनुसार भूतनन्दी के वंश और प्रवीरक के शासन में ही नव नागों का अन्तर्भाव हो जाता है। प्रवीर प्रवरसेन वास्तव में शिशु रूद्रसेन का संरक्षक या अभिभावक था और दूसरे पुराणों के अनुसार ये दोनों मिलकर शासन करते थे। विष्णुपुराण में नागों की राजधानियों का क्रम इस प्रकार दिया गया है – पदमावती, कांतिपुरी और मथुरा इसका तात्पर्य है संभवतः नागों की राजधानी पहले पदमावती में थी फिर वहां से उठकर कांतिपुरी और फिर वहां से मथुरा गयी।

भूतनन्दी क वंशज राजा शिवनन्दी के समय तक और उसके बाद प्रायः आधी शताब्दी तक राजधानी पदमावती में रही। इसके उपरान्त पदमावती कुषाण क्षत्रपों की राजधानी हो गयी, कुषाण साम्राज्य के अन्तिम काल में अर्थात् 150 ई0 के लगभग भारशिव लोग गंगा नदी के तट पर कान्तीपुरी में पहुंचे। काशी में या उसके आस–पास उन लोगों के अश्वमेघयज्ञ किए और वहीं उन लोगों के राज्याभिषेक हुए। कान्तीपुर से वे लोग पश्चिम की ओर बढ़े। वीरसेन के समय अधिक सिक्के चलाये गये थे। इनके सिक्के अहिछत्र से मथुरा तक पाये गये हैं। भीमनाग और स्कन्दनाग ने भी अपने सिक्कों पर मोर की मूर्ति रखी है।[12] इससे पता चलता है कि इन दोनों राजाओं ने भी वीरसेन का अनुकरण किया था। यद्यपि स्कन्द के साथ मोर का सम्बन्ध है, पर भीम के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, वीरसेन मथुरा तक नहीं बल्कि उससे भी और आगे इन्दौर खेड़ा तक पहुंच गया था, क्योंकि यहाँ से बहुत से सिक्के प्राप्त हुए हैं।[13] इससे यह पता चलता है कि बुन्देलखण्ड के जिस पश्चिमी भाग पर सौ वर्ष पहले नागों को हटाकर कुषाणों ने अधिकार कर लिया था, उस क्षेत्र पर वीरसेन ने फिर से अपने अधिकार में कर लिया ।

नवनागों का राज्य केवल संयुक्त प्रान्त में ही नहीं था, बल्कि पूर्वी और पश्चिमी बिहार में भी था, क्योंकि वायुपुराण तथा ब्राह्मणपुराण में कहा गया है कि उनकी राजधानी मथुरा में भी थी और चम्पा में भी।

भूतनन्दी के वंशज राजा शिवनन्दी के समय तक और उसके बाद आधी शताब्दी तक राजधानी पदमावती में रही। कुषाण साम्राज्य के अन्तिम काल में अर्थात् सन् 150 ई0 के लगभग भारशिव लोग गंगा नदी के तट पर कांतिपुरी में पहुंचे।

सम्राट प्रवरसेन ने अपने लड़के गौतमी पुत्र का विवाह भारशिव वंश के महाराज भवनाग की कन्या के साथ किया था। वाकाटक राजवंश के इतिहास में यह घटना इतने अधिक महत्व की थी कि यह उस वंश के इतिहास में सम्मिलित कर ली गयी थी। वाकाटकों के सभी राजकीय लेखों आदि में इसका बार–बार उल्लेख किया गया है। इन उल्लेखों में कहा गया है कि इस राजनीतिक विवाह के पूर्व भारशिवों के राजवंश ने गंगा तट पर जिसका अधिकार उन्होंने अपना पराक्रम प्रदर्शित करके प्राप्त किया था। दस अश्वमेघ यज्ञ किये थे और उनका राज्याभिषेक गंगा के पवित्र जल से हुआ था। भारशिवों ने गंगा तट पर जिस स्थान पर दस अश्वमेघ यज्ञ किये थे, वह काशी का दशाश्वमेघ नामक पवित्र घाट प्रतीत होता है जो भगवान शिव का लौकिक निवास स्थान माना जाता है। भारशिव लोग मूलतः बघेलखण्ड के निवासी थे और गंगा तट पर उसी रास्ते से पहुंचे होंगे। जिसे आजकल लोग दक्षिण का प्राचीन मार्ग कहते हैं और जो विन्ध्यवासिनी देवी के विन्ध्याचल नामक कस्बे (मिर्जापुर, संयुक्त प्रान्त) में आकर समाप्त होता है।

बनारस का जिला कुषाण साम्राज्य के एक सिरे पर था। वह उसकी पश्चिमी राजधानी से बहुत दूर था। यदि विन्ध्य पर्वत से कोई नई शक्ति मैदानों में पहुंचना चाहती और यदि वह बघेल खण्ड के रास्ते से नहीं बल्कि बुन्देलखण्ड के किसी भाग से होकर जाती है तो गंगा तट पर नहीं बल्कि यमुना तट पर पहुंचती। वाकाटकों के मूल निवास से भी इस बात का कुछ सूत्र मिलता है। प्राचीन काल में वागाह (वाकाट) नाम का एक कस्बा था और उसी के नाम पर वाकाटक वंश ने अपना नाम रखा था। यह बुन्देलखण्ड में ओछड़ा राज्य के उत्तरी भाग में है और ऐसा जान पड़ता है कि वाकाटक लोग भारशिवों के पड़ोसी थे। प्रवरसेन प्रथम से पहले अथवा उसके समय तक भारशिवों ने दस अश्वमेघ किये थे और स्वयं प्रवरसेन ने भी अश्वमेघ यज्ञ किये थे। इसलिए भारशिवों का अस्तित्व एक शताब्दी पहले से चला आ रहा होगा। अतः यह कहा जा सकता है कि उनका आरम्भ लगभग 150 ई0 में हुआ था।

भारशिवों ने मुख्य कार्य यह किया था कि उन्होंने एक नई परम्परा की नींव डाली थी या कम से कम एक पुरानी परम्परा का पुनरूद्धार किया था और वह परम्परा हिन्दू स्वतन्त्रता तथा प्रधान राज्याधिकारी की थी। हमारे राष्ट्रीय धर्मशास्त्र 'मानवधर्म शास्त्र' में कहा गया है कि आयावर्त आर्यों का ईश्वर प्रदत्त देश है और म्लेच्छो को उसकी सीमाओं के उस पार तथा बाहर रखना चाहिए। इस देश के पवित्र विधान के अनुसार यह आर्यो का राजनीतिक तथा सार्वराष्ट्रीय जन्म सिद्ध अधिकार था। इस अधिकार की रक्षा और स्थापना आवश्यक थी। भारशिवों ने जो परम्परा चलाई थी, वाकाटकों ने उसकी रक्षा की थी और बाद में गुप्तों ने भी उसी को ग्रहण किया था और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से लेकर वालादित्य तक सभी परवर्ती सम्राटों ने पूर्णरूप से उनकी रक्षा की थी। यदि भारशिव न होते तो न तो गुप्त साम्राज्य ही अस्तित्व में आता और न गुप्त विक्रमादित्य आदि ही होते।

वाकाटक इतिहास लेखकों ने इस भारशिवों का इतिहास बहुत ही सुन्दर रूप से सदा के लिए स्थायी कर दिया है। वह इतिहास एक ताम्रलेख14 की निम्नलिखित तीन पंक्तियों में है –

''अंश भार सन्निवेशितशिवलिंगोद्वाहनशिवसुपरितुष्टयुत्पादित राजवंशानाम् पराक्रम अधिगत–भागीरथी–अमलजलः मूर्द्धा– भिषिक्तानाम दशाश्वमेघ – अवमृथस्नानाम् भारशिवानाग् ।''

अर्थात् उन भारशिवों (के वंश) का जिनके राजवंश का आरम्भ इस प्रकार हुआ था कि उन्होंने शिवलिंग को अपने कंधे पर वहन करके शिव को भलीभांति परिपुष्ट किया था– वे भारशिव जिनका राज्याभिषेक उस भागीरथी के पवित्र जल से हुआ था जिसे उन्होंने अपने पराक्रम से प्राप्त किया था, वे भारशिव जिन्होंने दस अश्वमेघ करके अवमृश स्नान किया था।''

वासुदेव अन्तिम कुषाण सम्राट था और जैसा कि मथुरा वाले लेख से प्रकट होता है।15 उसमें कुषाण संवत 98 तक राज्य किया था। या तो वासुदेव के शासनकाल के अन्तिम वर्षो में (सन् 165 ई0) या उसकी मृत्यु (सन् 176 ई0) पर कुषाण साम्राज्य का अन्त हो गया था। इस कुषाण वंश के शासन के अन्त साथ ही साथ अश्वमेघी भारशिवों की शक्ति का उत्थान हुआ था। जिस समय उनका उत्थान हुआ था, उस समय उन्हें सबसे पहले कुषाण साम्राज्य का ही मुकाबला करना पड़ा था और उसी साम्राज्य को उन्हें तोड़ना पड़ा था।

पुराण जब नाग शाखा का उल्लेख करते हुए 'शिशु राजा' तक पहुंचते हैं, तब वे विन्ध्यशक्ति वाली शाखा का उल्लेख आरम्भ कर देते हैं और विन्ध्यशक्ति के पुत्र का वर्णन करते हैं जिसके सम्बन्ध में वे यह कहते हैं कि वह जन साधारण में प्रवीर या बहुत बड़ा वीर माना जाता था। विष्णु– पुराण में यह बात स्पष्ट रूप से कही गयी है कि शिशु और प्रवीर दोनों मिलकर राज्य करते थे। वायुपुराण में इनके लिए बहुवचन क्रिया 'भोक्ष्यन्ति' का प्रयोग हुआ है। द्विवचन का प्राकृत रूप है।16 भागवत में कही शिशु का नाम ही नहीं है और केवल प्रवीर का उल्लेख है। इस प्रकार यहाँ यह सिद्ध होता है कि पौराणिक इतिहास लेखक यहाँ यह प्रकट करते हैं कि शिशु ने अपने मातामह या नागराज का राज्य पाया था और उस दौहित्र शिशु के नाम पर विन्ध्य शक्ति का पुत्र प्रवीर शासन करता था। वायु पुराण और ब्राह्मण पुराण में जो 'च = आपि' (विन्ध्यशक्ति सुतस चापि) शब्द आया है। उससे भी दोनों का मिलकर ही शासन करना सिद्ध होता है। विष्णु पुराण में तो स्पष्ट रूप से शिशु को पहला स्थान दिया है और वायु तथा ब्राह्मण पुराणों में कहा गया है कि प्रवीर ने 60 वर्षो तक पुरिकांचनका में अथवा पुरिका और चणका में राज्य किया था। यह पुरिका और चणकावाला अन्तिम पाठ ही ठीक जान पड़ता है।

वाकाटक शिलालेखों17 के अनुसार राज सिहांसन गौतमी पुत्र को, जो सम्राट प्रवरसेन का पुत्र और रूद्रसेन प्रथम का पिता भी था और भारशिव महाराज भवनाग का नाती भी था। पर यहां विशेष ध्यान रखने की बात यह है कि वह पहले भारशिव के नाती के रूप में और फिर वाकाटक की हैसियत से राज्य का उत्तराधिकारी हुआ था। वाकाटकों के एक ताम्र लेख (बालाघाट, खण्ड–9, पृ0–270) में रूद्रसेन प्रथम स्पष्ट रूप से भारशिव महाराज भारशिवानाम् महाराज श्री रूद्रसेनस्थ कहा गया है। इस प्रकार इस विषय में विष्णु पुराण का वाकाटक वंश के लेखों से पूरा–पूरा समर्थन होता है फिर वाकाटक लेखों में रूद्रसेन प्रथम की मृत्यु के समय वाकाटक काल का एक प्रकार से अन्त कर दिया जाता है और वह दूसरे वाकाटक काल से पृथक कर दिया जाता है जो पृथिवीषेण प्रथम और उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी से आरम्भ होता है।

जब तक पुराणों की सहायता न ली जाय और भारशिव साम्राज्य के अधीनस्थ भारत का इतिहास न देखा जाय, तब तक उनके इतिहास के अधिकांश का कुछ पता ही नहीं चलता। वास्तव में भारत का प्रायः अर्द्ध– शताब्दी का इतिहास है जिसे हमें वाकाटक काल कहना पड़ता है। एक तो काल के विचार से इसका महत्व बहुत अधिक है और दूसरे इसलिए इसका महत्व है कि इससे परवर्ती साम्राज्य काल अर्थात् गुप्त साम्राज्य के उदय और प्रगति से सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी बातों का पता चलता है। सीमा और विस्तार की दृष्टि से भी और संस्कृति की दृष्टि से भी गुप्तों ने केवल उसी साम्राज्य पर अधिकार किया था जो प्रवरसेन प्रथम स्थापित कर चुका था। यदि पहले से वाकाटक साम्राज्य न होता तो फिर गुप्त साम्राज्य भी न होता।

प्रवरसेन प्रथम वह पहला राजा था जिसने प्राचीन सनातनी सम्राटों की उपाधि 'द्विरश्वमेघयाजिन' (दो अश्वमेघ करने वाला) का परित्याग किया था। प्रायः पांच सौ वर्ष पूर्व आर्यावर्त के सम्राट पुष्यमित्र शुंग ने तथा दक्षिणापथ के सम्राट श्री सातकार्णि प्रथम ने यह उपाधि कई सौ वर्षो के उपरान्त फिर से धारण करना आरम्भ किया था। सम्राट प्रवरसेन ने चार अश्वमेघ यज्ञ किये थे। इसके अतिरिक्त उसने कई वाजपेय तथा दूसरे यज्ञ भी किये। भारशिव लोग सम्राट की उपाधि नहीं धारण करते थे, परन्तु प्रवरसेन ने यह उपाधि धारण की थी और वह इस उपाधि का पूर्ण रूप से पात्र भी था क्योंकि उसने दक्षिण पर भी अपना आधिपत्य जमाया था।

पुराणों में वाकाटकों को विध्यक या विन्ध्य देश का राजवंश कहा गया है जिससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि ये लोग विन्ध्य प्रदेश के रहने वाले थे। विन्ध्यक या वाकाटक लोग किलकिला नदी के तट या उसके आस–पास के प्रदेश के रहने वाले थे। विदिशा के नागों और प्रवीरक का उल्लेख करते समय भागवत पुराण में इन सबको एक ही वर्ग में रखकर 'किलकिला के राजा लोग' कहा गया है। इसका अभिप्राय यही है कि उक्त पुराण पूर्वी मालवा, विदिशा और किलकिला को एक ही प्रदेश मानता है या पूर्वी मालवा को भी किलकिला के अन्तर्गत रखता है ।

पुराणों में विन्ध्यशक्ति के उदय का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि विन्ध्य शक्ति किलकिला के राजाओं में से था। यह बात स्पष्ट है कि यहाँ पुराणों का अभिप्राय नागों से है जिनका उस समय किलकिला के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था क्योंकि उनका नाम विदिशा वृष से बदलकर किलकिला वृष हो गया था जैसा कि वायु पुराण में कहा गया है –

तच्छनेन च कालेन ततः किलकिला – वृषा : ।
ततः कि (कै) लाकिलेभ्याश्च विन्ध्शक्तिभविष्यति ।।

× ×
× ×

वृषान वैदेश कांश्चापि भविष्यांश्च–निबोधतः ।18

भागवत में इसी प्रकार परवर्ती नागों का वर्णन किया गया है और किलकिला के राजाओं का वर्णन भूतनन्दी से आरम्भ करते हुए कहा गया है –

किलकिलायां नृपतयो भूतनन्दोथ वांगिरिः ।
शिशुनन्दिश्च तद्भ्राता यशो नन्दिः प्रवीरकः ।।19

पुराणों में प्रवीर का किला वृषों के अन्तर्गत अर्थात् पूर्वी बुन्देलखण्ड और बधेलखण्ड के भारशिवों के साथ रखा है जो यह कहा गया है कि किलकिला के राजाओं में से विन्ध्यशक्ति एक राजा हुआ था। उसका अभिप्राय यह है कि वह किलकिला के राजाओं के माने हुए करद राजाओं में था उनके संघ के एक खास सदस्यों में से था। वाकाटकों के जो राजकीय लेख हैं, उनमें विन्ध्य शक्ति का नाम छोड़ दिया गया है और अपने स्वतन्त्र राजाओं के वंश का प्रवरसेन से आरम्भ किया गया है और इसी से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि राष्ट्रीय संगठन की दृष्टि से विन्ध्यशक्ति एक अधीनस्थ राजा था। केवल अजंता की गुफा वाले शिलालेख में (गुफा सं0–16) वंश का जो इतिहास दिया है उसी में कहा गया है कि वाकाटक वंश का संस्थापक विन्ध्यशक्ति था – वाकाटकवंशकेतुः । इस वर्णन से यह प्रकट होता है कि विन्ध्य शक्ति, जिसकी शक्ति बड़े–बड़े युद्धों में विजय प्राप्त करने से बढ़ी थी और जिसने अपने बाहुबल से एक नये राज्य की स्थापना की थी, जो वाकाटक वंश का केतु था। उसने अपने वंश की उपाधि के लिए अपने मूल निवास स्थान का जो नाम चुना था, उससे पता चलता है कि वह एक सामान्य नागरिक था और किसी राजवंश में उसका जन्म नहीं हुआ था। विन्ध्य तथा अपने निवास स्थान वाकाटक के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करने में उसे देश भक्ति जन्य आनन्द होता था। जिस राजधानी में प्रवरसेन प्रथम राज्य करता था वह चनका थी और पुराणों के वर्णन से यह प्रकट होता है कि वह नगरी पहले से ही वर्तमान थी, प्रवरसेन की बसाई हुई नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता है, यदि नागों ने उस नगरी की स्थापना नहीं की थी तो वह कम से कम विन्ध्य शक्ति की स्थापित की हुई अवश्य थी।

भारशिवों ने तो गंगा और यमुना (इनके आस–पास के प्रदेश को) स्वतंत्र कर दिया था परन्तु कुषाणों को भारत से बाहर निकालने का कार्य प्रवरसेन के हिस्से में पड़ा था जो एक बहुत बड़े योद्धा का पुत्र भी था और स्वयं भी एक बहुत बड़ा योद्धा था ।

सन् 280 ई0 के लगभग कुषाण लोग दो ओर से भारी विपत्ति में पड़े थे। वरहान द्वितीय ने जो सन् 275 ई0 से 292 ई0 तक सासानी सिहांसन पर था, सीस्तान को अपने अधीन कर लिया था। हम यह भी मान सकते हैं कि जिस प्रवरसेन प्रथम ने चार अश्वमेध यज्ञ किये थे और जिसने कम से कम चार बड़ी चढ़ाइयां की होगी, उसने कुषाण शक्ति को दुर्बल और नष्ट करने वाली भारशिवों की नीति का अवश्य ही पालन किया होगा। सन् 301 और 309 ई0 के बीच में कुषाण लोग हुर्मजद द्वितीय के संरक्षण और शरण में चले गये थे, क्योंकि हुर्मजद द्वितीय ने काबुल के राजा अयति कुषाण राजा की कन्या के साथ विवाह किया था। यह ठीक वही समय था जबकि प्रवरसेन प्रथम बहुत प्रबल हो रहा था और इसी समय कुषाण राजा ने भारत को छोड़ दिया था और यहाँ से उसके साम्राज्य की राजधानी सदा के लिए उठ गयी थी। वह अपनी रक्षा के लिए भारत से पीछे हटकर अफगानिस्तान में चला गया था और उसने अपने आपको पूरी तरह से सासानी राजा के हाथों में सौप दिया था। पश्चिमी पंजाब में उस समय उसका जो थोड़ा बहुत राज्य किसी तरह बचा रह गया था, उसका कारण यही था कि उसे सासानी राजा का संरक्षण प्राप्त था और उसे इस संरक्षण की आवश्यकता केवल हिन्दू सम्राट प्रवरसेन प्रथम के भय से ही थी।

जब समुद्रगुप्त क्षेत्र में आया और उसने रूद्रसेन को परास्त किया, तब उसने वाकाटकों का सारा साम्राज्य जिसमें उत्तर वाला माद्रको का राज्य भी सम्मिलित था, एक ही हल्ले में अपने अधिकार में कर लिया। माद्रको ने भी तब बिना युद्ध किये चुपचाप उसकी अधीनता स्वीकृत कर ली थी, और इससे यह बात सूचित होती है कि वे लोग भी वाकाटकों के साम्राज्य के अन्तर्गत और अंग ही थे। जालंधर में यादवों के जो नये राजवंश का उदय हुआ था, उसका कारण यही था कि पूर्वी पंजाब में भी वाकाटक साम्राज्य था। इसी बात से यह पता चल जाता है कि परवर्ती भारशिव काल और वाकाटक काल में माद्रक देश और पूर्वी भारत के साथ क्यों घनिष्ट सम्बन्ध था और आदान– प्रदान आदि क्यों होता था। मद्र देश के साथ जो यह सम्बन्ध था उसी के कारण इतनी दूर पाटलिपुत्र में भी चन्द्रगुप्त प्रथम के समय कुषाण शैली के सिक्के ढलते थे। जिससे मुद्राशास्त्र के ज्ञाता एलन यह मानने को तैयार नहीं थे कि चन्द्रगुप्त के सिक्के स्वयं उसके बनवाये थे बल्कि वे इस परिणाम पर पहुंचे कि ये सिक्के

उसके बाद उसके लड़के ने पंजाब विजय प्राप्त करने के उपरान्त बनवाये थे।20

भारशिव काल में जो फिर से सिक्के बनने लगे थे और कुषाणों के इतिहास तथा जालंधर राज्य की स्थापना के सम्बन्ध में जो बातें कहीं गयी हैं उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वाकाटक साम्राज्य में माद्रक देश सम्मिलित था। यही बातें राजपूताने और गुजरात की रियासतों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। समुद्रगुप्त के शिलालेख में पश्चिमी और पूर्वी मालवा के जिन प्रजातंत्री समाजों की सूची दी है, उनमें आभीरों का नाम सबसे पहले आया है और मालव–आर्जुनायन–यौद्धेय–माद्रक वाले वर्ग में मालवों का नाम सबसे पहले आया है। मालव से माद्रक तक वर्ग दक्षिण से उत्तर की ओर अर्थात् दक्षिणी राजपूताने से एक के बाद एक होता हुआ पंजाब तक पहुंचता है और आभीरों वाला वर्ग सुराष्ट्र से आरम्भ होकर गुजरात तक पहुंचता है जिसमें मालवों के दक्षिण के पास वाला प्रदेश भी सम्मिलित है। वाकाटक के काल में काठियावाड या गुजरात में शक क्षत्रप बिल्कुल रह ही नहीं गये थे। वे लोग वहां से निकाल दिये गये थे और पुराणों के अनुसार वे लोग केवल कच्छ और सिन्ध में बचे थे। प्रजातंत्री भारत ने, जिसने भारशिव काल में ही अपने सिक्के फिर से बनवाने प्रारम्भ कर दिये थे बिना किसी युद्ध के समुद्रगुप्त को सम्राट मान लिया था। जब गुप्त सम्राट ने वाकाटक सम्राट का स्थान ग्रहण किया, तब प्रजातंत्री भारत ने स्वभावतः उसी प्रकार गुप्तों का प्रभुत्व मान लिया जिस प्रकार वाकाटकों का प्रभुत्व मान लिया था। उन्होंने स्वीकृत कर लिया कि गुप्त सम्राट ही भारत के सम्राट हैं।

अपने साम्राज्य के जिस भाग में वाकाटकों का प्रत्यक्ष रूप से शासन होता था, उसकी सीमा कुन्तल की सीमा से मिलती थी। बाद में कुन्तल कर्णाट के प्रबल कदम्ब राज्य का उत्थान होने पर उसके साथ वाकाटकों के प्रायः जो झगड़े हुआ करते थे, उन्हीं से यह बात प्रमाणित हो जाती है। दोनों की सीमाएं मिलती थी। कुन्तल के पड़ोसी होने के लिए यह आवश्यक था कि वाकाटकों का प्रत्यक्ष शासन कोंकण तथा दक्षिणी मराठा रियासतों के क्षेत्र पर होता और इसका अभिप्राय यह है कि उनका राज्य अवश्य ही बालाघाट पर्वतमाला के उस पार तक पहुंच गया होगा। पूर्व ओर वाले प्रदेश में आन्ध्र लोग थे और वे भी वाकाटकों के अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत थे। इसके साथ ही कलिंग तथा कोसल वाले भी वाकाटकों का प्रभुत्व मानते थे। प्रवरसेन प्रथम के समय से पहले और लगभग विन्ध्यशक्ति के समय में पल्लवों ने आन्ध्र देश में अपना एक राज्य स्थापित कर लिया था। विन्ध्य शक्ति की तरह पल्लव भी भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। उन्होंने भी प्रवरसेन की तरह उसी के समय के लगभग अश्वमेघ और वाजपेय आदि यज्ञ किये थे और दक्षिणापथ के सातवाहन सम्राटों के साम्राजय पर अधिकार करने का प्रयत्न किया था। यहाँ भी उसी प्रकार इतिहास की पुनरावृत्ति हो रही थी, जिस प्रकार पुष्यमित्र शुंग और शातकर्णि प्रथम के समय में हुई थी।

पुराणों में पल्लव लोग आन्ध्र राजा या आन्ध्र देश के राजा कहे गये हैं, जो आन्ध्र सहित मेकला पर राज्य करते थे और विन्ध्य संतति कहे गये हैं। पल्लवों से पहले वहाँ एक ओर राज्य वंश का राज्य था जिसने तीन पीढ़ियों तक शासन किया था। वे लोग इक्ष्वाकु कहलाते थे और ज्यों ही सातवाहन वंश का अन्त हुआ था, त्यों ही उन्होंने अश्वमेघ यज्ञ करके यह जतलाना चाहा था कि हम सातवाहनों का राज्य लेने के प्रयत्न में है। उनकी राजधानी श्री पर्वत में थी जिसे आजकल नागार्जुनी कोंड कहते हैं और जो गुंटूर जिले में है। इनका पता उन शिलालेखों से चलता है जो इनके सम्बन्धियों ने खुदवाए थे और जो नागार्जुनी कोंड के उस स्तूप में मिले हैं जिसका पता अभी हाल में चला है। विन्ध्यशक्ति और पल्लवों के उदय के साथ ही साथ इक्ष्वाकुओं का अंत हो गया था। पल्लव लोग ब्राह्मण थे और उनसे पहले के सातवाहन भी ब्राह्मण थे। दक्षिण में बहुत पहले से ब्राह्मणों का साम्राज्य चला आ रहा था और वह साम्राज्य इतना प्रबल था कि ज्यों ही समुद्रगुप्त ने पल्लवों को पराजित किया त्यों ही पल्लवों के करद तथा अधीनस्थ राज्य कदम्ब के मयूरशर्मन और उसके पुत्र कग ने जो ब्राह्मण थे, यह मानने से इन्कार कर दिया कि दक्षिणी साम्राज्य का नाश हो गया और उन्होंने दक्षिणी साम्राज्य की पुर्नस्थापना की भी घोषणा कर दी। पर समुद्र गुप्त और पृथ्वीषेण ने उन लोगों की एक न चलने दी।

उस समय के उत्तर तथा दक्षिण भारत के इतिहास में मुख्य अन्तर यही था कि उत्तर वाले एक अखिल भारतीय साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे। सातवाहनों वाले पिछले साम्राज्य के समय हिन्दुओं को जो अनुभव प्राप्त हुआ था, उसी के फलस्वरूप उनमें यह कामना उत्पन्न हुई थी। उस समय उन्हें यह अनुभव हुआ था कि जो आक्रमणकारी सदा उत्तर की ओर से आया करते हैं उनके सामने दक्षिण की शक्ति ठहर नहीं सकती थी। वे समझते थे कि एक भारत में दो सम्राटों का होना एक बड़ी दुर्बलता का कारण है। प्रवरसेन प्रथम जो सारे भारत का सम्राट बना था, जान पड़ता है कि उसमें उसका मुख्य नैतिक उद्देश्य यही था और उसके उपरान्त उसके उत्तराधिकारी समुद्र गुप्त ने जो इस बात पर संतोष प्रकट किया था मैंने सारे भारत को एक में मिलाकर अपने दोनों हाथों में कर रखा है, उसका कारण भी यही था। एक तो कुषाण साम्राज्य का जो पुराना अनुभव था और दूसरे भारत के पड़ोस में ही विन्ध्यशक्ति के समय में जो नया सासानी साम्राज्य में स्थापित हुआ था, उसके प्रबल हो जाने के कारण जो नई आवश्यकता भी स्पष्ट हो गयी थी। यह आवश्यकता उस समय और प्रबल हो गयी थी जब प्रवरसेन प्रथम के समय में सन् 300 ई0 के लगभग कुषाण साम्राज्य पूरी तरह से सासानी साम्राज्य में मिल गया था। वाकाटक राजा ने चार अश्वमेघ यज्ञ किये थे। महाभारत का दिग्विजय जो चार भागों में विभक्त था, उसी की समता का ध्यान रखते हुए हम यह अभिप्राय भी निकाल सकते हैं कि प्रवरसेन प्रथम ने भी अपना दिग्विजय चार भागों में विभक्त किया था और उनमें से एक दक्षिण की ओर हुआ होगा। यद्यपि सम्राट प्रवरसेन के समय का लिखा हुआ उसके दिग्विजय का कोई वर्णन अभी तक नहीं मिला है।

वाकाटक सम्राट ने तीन बहुत बड़े कार्य किये थे। भारशिव साम्राज्य के प्रायः अन्तिम चालीस वर्षो में उसका पिता विन्ध्य शक्ति बहुत बड़े–बड़े युद्ध करता रहा था और वही भारशिवों के साम्राज्य का संस्थापक था। प्रवरसेन ने भी उसकी शक्ति और आदर्श प्राप्त किया था और एक स्पष्ट राजनीतिक सिद्धान्त स्थिर किया था। उन्होंने निश्चित किया था कि सारे भारत में एक हिन्दू साम्राज्य होना चाहिए और शास्त्रों की मर्यादा फिर से स्थापित होना चाहिए। सन् 250 ई0 के लगभग संस्कृत के पक्ष में एक बड़ा साहित्यिक आन्दोलन आरम्भ हुआ था और पचास वर्षो में वह आन्दोलन बढ़कर उस सीमा तक पहुंच गया था, जिस सीमा पर गुप्तों ने उसे अपने हाथ में ले लिया था। सन् 340 ई0 के लगभग कौमुदी–महोत्सव नामक एक नाटक लिखा गया था जिसमें समस्त साहित्यिक आन्दोलन का चित्र अंकित किया गया है। यह नाटक वाकाटक सम्राट के एक करद और अधीनस्थ राजा के दरबार में लिखा गया था और इसको लिखने वाली एक स्त्री थी, जिसने एक आसन से बैठकर एक बार में ही आदि से अन्त तक सारा नाटक लिख डाला था और जिसके लिए संस्कृत में काव्य करना उतना ही सुगम था, जितना सुगम भास और कालिदास के लिए था। प्राचीन युगों की संस्कृत भाषा मानो उसकी बोलचाल की भाषा रही थी। साथ ही उस समय वह राजभाषा हो गयी थी। राजधानी में अथवा उसके आस–पास जितने आरम्भिक शिलालेख आदि पाये गये हैं वे सब संस्कृत में हैं। उसी समय शिव स्कन्द वर्मन के एक पीढ़ी बाद दक्षिण के राजकीय पत्रों और लेखों आदि में भी संस्कृत का व्यवहार होने लगा था। वाकाटक लेखों आदि में वंशावली का जो रूप बराबर पीढ़ी दर पीढ़ी दोहराया गया है, उससे सूचित होता है कि प्रवरसेन–प्रथम के समय में ही संस्कृत आदि में लेख आदि लिखने की प्रथा चल गयी थी। समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों ने भी वाकाटक लेखन शैली का ही ठीक–ठीक अनुकरण किया है। गणपति नाग नामक दूसरे करद और अधीनस्थ राजा के दरबार में बहुत दिनों से चली आयी हुई देशभाषा को छोड़कर फिर से प्राचीन संस्कृत में काव्य करने की प्रथा चल पड़ी थी और भाव शतक में उस नागराज के सम्बन्ध में जो श्लोक दिये गये हैं, उन्हें देखकर प्राकृत भाषा की गाथा सप्तशती का स्मरण हो आता है। कौमुदी– महोत्सव से हमें इस बात का भी पता चलता है कि उस समय सामाजिक पुनरूद्धार पर बहुत जोर दिया गया है।

भार–शिव काल में भार–शिवों के साथ गंगा का जो संयोग हुआ था उसमें बहुत बड़ा नैतिक बल निहित था। भार–शिवों ने गंगा को मुक्त किया था अ.ैर वे उसे कला के क्षेत्र में ले आये थे और उन्होंने उसे अपने सिक्कों तक पर स्थान दिया था। वे यमुना को भी क़ला के क्षेत्र में ले आये थे, जैसा कि भूमरा के मंदिरों और देवगढ़ वाली गंगा, यमुना की उन मूर्तियों से सूचित होता है, जिनके ऊपर नाग छत्र है। पर वाकाटकों ने तो उन्हें अपने साम्राज्य का चिन्ह ही बना लिया था।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. *जायसवाल, के0पी0 –''अंधकार युगीन भारत'', पृ0–24*
2. *जायसवाल, के0पी0 –''हिस्ट्री आफ इण्डिया '', पृ0 14–15*
3. *पारजिटर कृत, Purana Text, iknflVII.kh–15*
4. *Archaeological Survey of India Report 1915.16ए पृ0–100 की पाद टिप्पणी।*
5. *Archaeological Survey of India Report खण्ड–12, पृ0–36 की पाद टिप्पणी।*
6. *पारजिटर कृत, Ancient Indian Historical Tradition, शीर्षक लेख पृ0–262*
7. *फ्लीट , Gupta Inscriptions पृ0 237, 245*
8. *विसेंट स्मिथ Catalogue of Coins in Lahore Museum तीसरा भाग, पृ0–128*
9. *विष्णु पुराण, पृ0–53*
10. *जायसवाल, के0पी0 –''भारत का इतिहास '', पृ0 29*
11. *जायसवाल, के0पी0 –''भारत का इतिहास '', पृ0 29–31*
12. *कनिघम कृत Coins of Medival India, पृ0 23*
13. *कनिघम I.S.I. खण्ड–12, पृ0 41–42 245*
14. *फ्लीट] Gupta Inscriptions पृ0 237, 245*
15. *ल्युडर्स, सूची नं0–76, Epigraphia India nloka खण्ड, परिशिष्ट*
16. *पारजिटर पृ0–50, पाद टिप्पणी–31*
17. *फ्लीट , Gupta Inscriptions पृ0 237, 245*
18. *वायु पुराण, श्लोक 358–360*
19. *भागवत पुराण श्लोक 32–33*
20. *जायसवाल, के0पी0 –''अंधकार युगीन भारत'', पृ0–112*